National Journal of
Hindi & Sanskrit Research

ISSN: 2454-9177
NJHSR 2026; 1(64): 142-146
© 2026 NJHSR
www.sanskritarticle.com

डॉ. पूनम कुमारी
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
(दिल्ली)

Correspondence:
डॉ. पूनम कुमारी
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
(दिल्ली)

समकालीन हिंदी काव्यालोचना और अस्मितावादी विमर्श

डॉ.पूनम कुमारी

प्रस्तावना: हिंदी साहित्य के समकालीन परिदृश्य में आलोचना केवल काव्य की कलात्मक संरचना और भाषा-सौंदर्य तक सीमित नहीं रही है, बल्कि अब वह सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विमर्शों का गहन उपकरण बन चुकी है। इस परिवर्तनशील आलोचना दृष्टि में अस्मितावादी विमर्श की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही है। दलित, स्त्री, आदिवासी और पिछड़े वर्गों की अस्मिता की पहचान और साहित्य में उनकी उपस्थिति को रेखांकित करने वाली आलोचना दृष्टियों ने समकालीन हिंदी काव्यालोचना को एक नया आयाम दिया है। आलोचना साहित्य का विवेक होती है। वह न केवल साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन का माध्यम है, बल्कि वह सामाजिक दृष्टियों, वैचारिक आंदोलनों और समय की ज़रूरतों को परखने की कसौटी भी है। समकालीन हिंदी आलोचना के क्षेत्र में, जहाँ एक ओर उत्तर-आधुनिकता, भूमंडलीकरण और उपभोक्तावाद की बहसें सक्रिय हैं, वहीं दूसरी ओर अस्मिता के प्रश्नों ने एक व्यापक विमर्श खड़ा किया है। दलित, स्त्री, आदिवासी, अल्पसंख्यक और यौनिक अल्पसंख्यकों की अस्मिता को केंद्र में रखकर उभरा अस्मितावादी विमर्श, न केवल साहित्यिक सृजन में बल्कि आलोचना में भी एक नई दृष्टि और विमर्शधारा को जन्म देता है। हिंदी साहित्य के विकास में आलोचना की भूमिका केवल मार्गदर्शक भर नहीं रही है, बल्कि वह साहित्यिक दृष्टियों, विचारधाराओं और संवेदनाओं की परख का एक महत्वपूर्ण उपकरण रही है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब हिंदी कविता ने प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता जैसे आंदोलनों के बाद जनपक्षधरता की ओर रुख किया, तब आलोचना को भी अपने प्रतिमानों को पुनर्परिभाषित करना पड़ा। इसी क्रम में अस्मितावादी विमर्श ने हिंदी काव्यालोचना को गहराई, व्यापकता और बहुलता प्रदान की।

बीज शब्द: समकालीन, अस्मितावादी विमर्श, आलोचना, स्त्री, दलित, आदिवासी, अस्मिता, काव्यालोचना, साहित्य, विचारधारा

मूल आलेख: भारत में साहित्य की परंपरा सदैव से समृद्ध रही है। बात चाहे साहित्य के उस दौर की हो जब साहित्य सिर्फ आख्यान परंपरा में ही हुआ करता था या आधुनिक काल में रविंद्रनाथ ठाकुर के बांग्ला साहित्य को नोबेल पुरस्कार मिलने की हो या साहित्य का अंतरराष्ट्रीय कीर्तिमान स्थापित करने वाली गीतांजलि श्री को उनके हिंदी उपन्यास 'रेत समाधि' के लिए मिला 'बुकर पुरस्कार' हो। भारतीय भाषाओं के साहित्य का इतिहास अत्यंत गौरवशाली रहा है। ऐसे में यदि हम इस गौरवशाली परंपरा के प्राण तत्व हिंदी साहित्य की बात करें तो इसकी विलक्षणता अद्वितीय है। कविता को परिभाषित करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं कि- 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आयी है उसे कविता कहते हैं।'

संस्कृत की आचार्य परंपरा से शुरू होकर आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल की गूढ़ रचनात्मकता से होते हुए आधुनिक काल में समकालीन कविता तक इसकी यात्रा अनवरत जारी है। कविता की अनिवार्यता बताते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं कि- 'मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में, किसी न किसी रूप में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो,

विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा। मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मंडल बांधता चला आ रहा है जिसके भीतर बंधा-बंधा वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का संबंध भूला सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी से अन्त: प्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी।' इतनी विशद और विस्तृत यात्रा में हिंदी काव्य के हर पड़ाव पर परिवर्तन स्वाभाविक रूप से होते रहे हैं। यह परिवर्तन कथ्य से लेकर बिंब विधान, रसात्मकता, छंदबद्धता आदि विभिन्न स्तरों पर हुए हैं।

औपनिवेशिक शक्तियों से आज़ाद होते भारत के लिए स्वतंत्रता का अर्थ केवल सत्ता परिवर्तन भर नहीं रहने वाला था। ऐसे में यह स्वाभाविक था कि सत्ता परिवर्तन की खनक जनसामान्य के विभिन्न विमर्शों में दिखें। चूंकी साहित्य समाज का स्पष्ट प्रतिबिंब होता है ऐसे में यह निर्णायक पल आम जीवन के कायदे-कानूनों के साथ-साथ साहित्य के विभिन्न सांचो और ढांचों को प्रभावित करने वाला हुआ। जनमानस की बदलती जनआकांक्षाओं का स्वाभाविक तकाजा था कि हिंदी काव्य साहित्य में हर स्तर पर आमूलचूल परिवर्तन हुए। कहीं तो यह परिवर्तन राजनैतिक और विचारधारात्मक उथल-पुथल को दर्शाने वाले थे, तो कहीं अकविता जैसे बेडौल पूर्णतः पश्चिमी शैली का अनुकरण थे।

उठापठक और ऊहापोह के इस दौर में अज्ञेय, नागार्जुन, रघुवीर सहाय, मुक्तिबोध सरीखे सशक्त मनीषियों ने हिंदी कविता के समकालीन स्वरूप का आधार तैयार करने का कार्य किया। आज़ादी के बाद एक नई करवट लेती भारतीय राजनीति में जब इमरजेंसी का दौर आया उसमें समकालीन हिंदी कविता का एक सुव्यवस्थित स्वरूप प्रकट हुआ। अपनी अनवरत यात्रा पर बढ़ रही हिंदी कविता में 1990 के दशक में हुए आर्थिक और सांप्रदायिक घटनाओं का भी प्रत्यक्ष प्रभाव अंकित हुआ। नए-नए परिदृश्यों, परिस्थितियों, भावों और चुनौतियों का असर यह हुआ कि समकालीन हिंदी कविता और काव्यालोचना का घालमेल होने लगा। राजेश जोशी, अशोक वाजपेयी, अरुण कमल, विष्णु खरे, जितेन्द्र श्रीवास्तव आदि सृजनकार दोनों विधाओं में अपनी सृजन कौशल दिखाते पाए गए।

वैसे आलोचना की सार्थकता प्रस्तुत रचना की विवेचना, संपूर्णता में करते हुए तटस्थ भाव से उसकी खूबियों-खामियों को जाहिर करने में होती है। लेकिन खेमेबाजी के इस दौर में जब आलोचना-कर्म की नैतिकता संदेहास्पद होने लगी वैसे में कविता वस्तुतः समूचे साहित्य में, समकालीन कवि-आलोचकों की एक प्रतिभाशाली पीढ़ी का उदय हुआ। कवि जिस प्रकार का सृजन कार्य कर रहे थे, उसके बारे में स्थापित आलोचकों का दृष्टिकोण पारंपरिक था और यह दृष्टिकोण किसी भी प्रकार से उनकी सर्जना के बारे में बुद्धि-संगत, सैद्धांतिक या व्यवहारिक समीक्षा नहीं प्रस्तुत कर सकता था। परिणामत: समकालीन कवियों को अपनी सर्जनात्मकता के सैद्धांतिक पक्ष को स्वयं ही प्रस्तुत करना पड़ा। यह एक प्रकार से रचनाकारों द्वारा साहित्य जगत में अपनी कविता का पक्ष प्रस्तुत करना था। आलोचना सतत रूप से चलने वाली एक शोध प्रक्रिया है जिसमें कृतियों के नए पाठ और अर्थ खुलते ही रहते हैं।

बदलाव की जो बयार समाज से शुरू होकर साहित्य तक पहुंचती है उसका प्रत्यक्ष प्रभाव साहित्यिक मूल्यांकन की प्रक्रिया पर भी पड़ता है। यूं तो भारतीय समाज में ढ़ेरों परिवर्तन पश्चिम की अंधानुकरण का प्रतिफल है। बावजूद इसके बड़े ही गर्व से यह कह सकते हैं कि हिंदी आलोचना की उन्नति में यदि कोई परिवर्तन हुआ है तो वह पश्चिम या फिर किसी और साहित्य का अनुकरण भर नहीं है। आलोचना पद्धति में यह परिवर्तन सामाजिक और साहित्यिक जीवन में हो रहे परिवर्तन से कदमताल करते हुए अपने साहित्य को परखने और परिमार्जित करने के उद्देश्य से हुआ है। हिंदी में आधुनिकता और वैज्ञानिकता की जो सुगबुगाहट भारतेंदु ने पैदा की थी उसे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और बाबू श्यामसुंदर दास जैसों ने एक मुकाम प्रदान किया। आचार्य शुक्ल का उदय और उसके बाद आए कालजयी रचनाकारों ने अपनी प्रतिभा के दम पर हिंदी साहित्य को एक अलग प्रौढ़ आयाम पर पहुंचा दिया।

साहित्य को जिस मानव मुक्ति के विराट मानवीय लक्ष्य का साध्य माना जाता है, इसकी वास्तविक सिद्धि समकालीन हिंदी कविता में अस्मितावादी विमर्श के प्रवेश से ही दिखती है। ऐसा इसलिए भी है क्योंकि अस्मितावादी विमर्श के इस समकालीन दौर में स्त्री, दलित और आदिवासियों के मसलों पर जिस प्रखरता और गंभीरता के साथ रचनाकारों का उभार हुआ है उससे नवचेतना के साथ-साथ आधुनिक मूल्यों का वास्तविक विस्तार होता दिखता है।

यह तो सर्वविदित है कि समूचा साहित्य किसी न किसी तरीके से मानवीय मूल्यों को संरक्षित करने और हर तरह की रूढ़ियों से आज़ाद करने के पुनीत कार्य में ही अग्रसर रहता है। यह एकरूपता उसी प्रकार अभिन्न है जैसे समाज के मध्य रहने वाला कोई व्यक्ति दूसरे से पूर्णतः अलग नहीं रह सकता। ठीक उसी तरह साहित्य में रचनाधर्मिता का हाल है। वास्तव में, जिसे हम संपूर्ण यथार्थ मानते हैं वह विभिन्न चरणों में परिमार्जित होकर और ढेरों अनुभव-अनुभूतियों को संजोकर मानवीय संवेदना के विभिन्न आयामों से गुज़र कर साहित्य के लिए एक बीज के रूप में प्रकट होता है। इतने सारे विस्तृत चरणों से छनकर आने के कारण इसमें आम जनसमूह के कष्टों-पीड़ाओं, विसंगतियों और उम्मीदों के प्रति एक विशेष ईमानदारी और सहज समग्रता होती है। इससे उपजा विचार भले ही अलग-अलग वर्गो, जातियों अथवा संस्कृति को आधार रखें, लेकिन सभी का वास्तविक लक्ष्य मानवता और इसके मूल्यों की पैरोंकारी कर उसे स्थापित करते हुए मज़बूत करना ही होता है।

जैसे हर वस्तु का कोई न कोई मुख्य लक्ष्य होता है अर्थात् उसके माध्यम से किसी कार्य की सिद्धि का प्रयोजन होता है। ठीक उसी प्रकार साहित्य सृजन का भी एक मुख्य ध्येय है। वस्तुतः साहित्य का ध्येय समाज के वजूद और उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति के साथ जनसमूह के हर तबके को जीवटता प्रदान कर उसे तमाम गैर ज़रूरी

बंधनों से आज़ाद कराकर विशाल मानवीय मूल्यों को आत्मसात करने के लिए प्रेरित करना ही है। इसी कारणवश साहित्य के किसी भी विमर्श में यह जांच लेना परम आवश्यक होता है कि उसके माध्यम से इन मूल्यों को जागृत करने में और मज़बूती प्रदान करने में कितनी गुंजाइश है। फिर चाहे बात स्त्री विमर्श की हो या दलित या फिर आदिवासी विमर्श की ही क्यों न हो। इसे हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि बात चाहे उन अनगिनत स्त्रियों की हो, जो रोज खुद के अथक संघर्षों के दम पर पितृसत्तात्मकता जैसे सामाजिक संरचना को ध्वस्त कर रही है या जो दलित-वंचित, प्रताड़ित-शोषित तबका अपने निरंतर प्रयासों से ब्राह्मणवादी वर्णाश्रम की व्यवस्था को ललकार रहा है या फिर वह आदिवासी समुदाय जो जल, जंगल और ज़मीन पर सामंतवादी ताकतों के एकाधिपत्य को ललकार रहा है। ऐसे तमाम वर्गों की पीड़ा और आकांक्षा को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला यह साहित्य तभी सफल हो सकता है जब वह बाह्य कारणों के साथ-साथ अन्त:कारणों की पड़ताल का भी साहस करेगा।

मुख्य बात यह है कि भले ही हमारा साहित्य तमाम तरह के लेखन पद्धतियों से सुसज्य हो, उसमें दलित, आदिवासी या स्त्री-पुरुष जैसे ढेरों भेद-उपभेद हो, लेकिन जब तक उसमें वस्तुस्थिति से द्वंद्व करने की कूव्वत और चेतना नहीं होगी और उसके माध्यम से एक अलग तरह के मूल्यों का उदय और उससे उपजी चेतना का फैलाव न हो उस वक्त तक ये तमाम तरह के भेद अपने मूल मंतव्य और अपनी यथार्थ मुश्किलों को एक वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में उपस्थित ही नहीं कर पाएंगे। भारतीय समाज में जहां रुढ़िवादिता अधिक है और सामाजिक तंत्र के ताने-बाने में अनेकों विविधताएं हैं वैसे में लैंगिक विभेदता और स्त्री-पुरुष समानता अभी भी जटिल प्रश्न ही है। एक विशेष वर्ग की बात वह 'वर्ग-विशेष' ही करें यह धारणा भी शायद इसी कारणवश उचित नहीं मानी जाती। साहित्य में जाति-धर्म या भाषा-स्थानिकता आदि को सीमाबद्ध न करने की बात भी इसीलिए ही कहीं जाती है। यह बिल्कुल भी ज़रूरी नहीं कि साहित्य में स्वानुभूति और सहानुभूति का एक खाका खींचा जाए। ऐसा कहना इसीलिए भी ज़रुरी है क्योंकि तमाम ऐसे वंचित वर्ग है जिनको अभी भी भाषा और उसमें भी साहित्यिक भाषा तक की पहुंच ही संभव नहीं है और फिर तमाम गैर वर्गीय रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से इस भेद को प्रमाणिक तौर पर कम भी किया है। साहित्य की प्रासंगिकता भी इसी तत्त्व से सिद्ध होती है। कोई भी साहित्य अपने देशकाल और समाज को कितना बेहतर प्रदर्शित करता है और अवांछित शक्तियों से किस तरह जूझता है इसी बात से उसकी श्रेष्ठता मापी जा सकती है। संभव है कि इतने विमर्शों के मध्य विचार और समझ के स्तर पर रचनाकार एकमत न हो, फिर भी यह उचित नहीं होगा कि सिर्फ इसीलिए ही किसी को स्वीकार न किया जाए कि वह उस वर्ग-विशेष से नहीं आता। सिर्फ साहित्य ही नहीं वरन् समाज के मध्य भी अलग-अलग वर्गों और समूहों की वजह से जो वैचारिक अन्तर सामने आए उसका उपयोग सिर्फ वर्ग-विशेष के हितों को साधने में न प्रयोग हो बल्कि संपूर्ण मानव जाति के सामूहिक उत्थान हेतु प्रयुक्त किया जाए। ऐसे में ही हम विमर्श के मुख्य तत्व अर्थात् संवादधर्मिता और सहज वैचारिक विनिमय को उसका श्रेष्ठ रूप प्रदान कर पाएंगे।

मानवता की मुक्ति और विराट मानव समाज के मध्य सामाजिक संरचनाओं को सभी के लिए समान बनाना ही साहित्य का मुख्य ध्येय माना जाता है। ऐसे में बाहरी मुश्किलों से लड़ने के लिए यह परम आवश्यक है कि सृजनकार के अंदरुनी संघर्षों में और वैचारिक चेतना में एक तारतम्यता हो। इसी तत्त्व को 'सर्वहारा चेतना' के नाम से मुक्तिबोध ने परिभाषित किया है। यह रचनाकार के दुखों और पीड़ाओं को संपूर्ण त्रस्त जनमानस से जोड़ती है। इन तमाम विषमताओं से उपजी यह बेचैनी उन्हें सामान्य मनुष्य से अलग होने का आभास देती है। अलग-अलग कालखंडो में कई रचनाकारों ने समाज में चलें आ रहे शोषण और उत्पीड़न को उजागर करते हुए प्रभुत्वशाली वर्गो के अभिजात्यवादी मूल्यों को कटघरे में खड़ा किया है और युगों से हो रहे इन दमनों और अत्याचारों का पुरज़ोर मुखालफ़त करते हुए वर्ग भेद से परे विराट मानव-मूल्यों और जनतंत्रीकरण को साहित्य में समाहित किया है। इस परिदृश्य में प्रेमचंद, निराला से लेकर राहुल सांकृत्यायन, यशपाल और नागार्जुन जैसे ढेरों रचनाकारों का अप्रतिम योगदान है। वर्तमान परिदृश्य में भी साहित्य में किसी तरह के बंधनों या द्वंदो को स्थापित करना संभव नहीं प्रतीत होता। ऐसा इसलिए भी है क्योंकि अस्मिता विमर्श में स्त्री, दलित या आदिवासी के मुद्दों पर जिस पैनेपन और गंभीर्यता के साथ रचनाएं उभरी है और उनके द्वारा नव चेतना और आधुनिक मूल्यों का विस्तार हुआ है उसके बाद पाठकों को किसी भी तरह के दायरे में बांधना मुमकिन नहीं हो पाएगा। हर साहित्यकार के अंदर ढेरों दृष्टिकोण और बहुत सी अस्मिताओं का सहवास होता है। यह विविधता एक दूसरे को सशक्त भी करती है और इसके माध्यम से साहित्यकार समाज में व्याप्त विषमताओं और ज़मीनी हकीकत से परिचित होता है। इससे हम यह भी समझ सकते हैं कि वास्तविकता कभी सपाट और सुस्पष्ट नहीं होती, ऐसे में काल और समाज के मध्य व्याप्त विरोधाभास को संपूर्णता में ग्रहण करना और उसे उसी रुप में प्रस्तुत करना ही किसी रचनाकार की रचनाओं को चिरंजीवी बनाती हैं।

वर्तमान सदी में अलग-अलग वर्गों ने खुद के अस्तित्व और अस्मिता को मुख्य धारा में स्थापित करने हेतु हर मोर्चे पर तीव्रता और तीक्ष्णता से प्रयास शुरू कर दिए है। इस बात को और स्पष्ट करते हुए अरुण माहेश्वरी कहते हैं- "यह देखा जाता है कि खास-खास परिस्थितियों में खास-खास पहचान बनाने के लिए 'फिक्शन राइटर' अस्मिता का प्रश्न उठाते हैं। लेकिन वही बात है कि इन सारी अस्मिताओं का निषेध करते हुए जब वह बेसिक मूल्यों को स्थापित करता है तभी असल में बड़ा साहित्य जन्म लेता है। इन छोटी-छोटी अस्मिताओं को स्थापित करने के लिए ही साहित्य लिखा जा रहा

है।" इस अस्मिताबोध की जागृति ने इक्कीसवीं सदी को नए-नए विमर्शों से भर दिया है। इस नव जागृति के नेपथ्य में कहीं न कहीं एक तरह का सुस्पष्ट विचार और चेतना मुख्य तत्व का काम कर रहे हैं। खुद के अस्तित्व को स्थापित करने की यह कयावद किसी दूसरे वर्ग को विपक्ष मानकर नहीं की जा रही। साहित्य की जो अलग-अलग विधाएं हैं जैसे- कविता, कहानी, आत्मकथा या उपन्यास आदि इनके माध्यम से वंचित समूहों ने समाज तक अपनी पीड़ाओं और आकांक्षाओं को पहुंचाने का काम किया है। हिंदी साहित्य में जो प्रमुख तीन विमर्श माने गए हैं, दलित, आदिवासी और स्त्री इन सभी ने मुख्यत: यही किया है। इन सभी विमर्शों के माध्यम से वंचित वर्गों के हितों की बात समाज के समक्ष प्रस्तुत किए गए हैं।

आज जब हम देखते हैं कि 'अस्मिता' का सवाल सबसे प्रसांगिक माना जाने लगा है तब यह जान लेना भी ज़रूरी है कि ऐसा होने के पीछे की कहानी क्या रही है। ऐसे में हम यह स्पष्ट देख पाते हैं कि बीसवीं सदी के आखिरी कुछ दशकों से समस्त विश्व में ही होने वाले वैचारिक और अवधारणात्मक परिवर्तनों ने महती भूमिका अदा की है। इससे अन्य नई अस्मिताओं का भी उदय हुआ है। दलित, आदिवासी और स्त्री के साथ-साथ राष्ट्रीय और सांस्कृतिक आदि अस्मिताओं के वजूद भी स्थापित हुए हैं। ऐसे अनेकों प्रयोगों के घटित होने के बाद भी 'अस्मिता' शब्द को परिभाषित करने में तमाम अंतर व्याप्त है। हर सामाजिक समूह इसे अपने हिसाब से तय करता रहा है। गौर करने की बात यह है कि इन तमाम भेदों के होते हुए भी इस शब्द के वैचारिक विमर्शों तथा अकादमिक उपयोगों को लेकर स्थिति स्पष्ट ही है। यह भी तय है की कोई एक निश्चित परिभाषा में 'अस्मिता' को जकड़ना सही भी नहीं होगा, समाज के विभिन्न वर्ग अपने हिसाब से इसका निर्धारण करते रहते हैं। विशेष बात यह भी है कि हिंदी साहित्य में हुए तमाम साहित्यकारों में से भी किसी ने अर्थात् ऐसी कोई चेष्ठा नहीं की है। वर्तमान में जिसे हम अकादमिक स्पेस कहते हैं वहां इस शब्द के चलन का शोर है। कुछ सामाजिक समूहों के और उनके सामाजिक ताने-बाने को परिभाषित करने में इसका प्रयोग अधिक दिखता है।

दलित विमर्श के साहित्यकारों ने जातिगत विसंगतियां स्वयं भोगी थी तथा अपने ही अनुभवों की वो अभिव्यक्ति कर रहे थे। ऐसी स्थिति में दलित साहित्य की आलोचना के लिए पूर्ववर्ती आलोचना के प्रतिमान नाकाफी प्रतीत हुए। परिणामस्वरूप दलित रचनाकारों द्वारा नए सौंदर्यशास्त्र की स्थापना की कोशिश की गयी। साहित्य के पुराने मत के अनुभवों की अभिव्यक्ति के दौरान उसको सुंदर और मर्मस्पर्शी बनाकर प्रस्तुत किया जाना चाहिए, का भी दलित विमर्श खंडन कर रहा था। वह अपनी अभिव्यक्ति में कटु यथार्थ, भदेसपन और अनगढ़पन के बावजूद अपने इसी रूप में स्वीकृत होना चाह रहा है तथा अनुभव की प्रमाणिकता को आलोचना का प्रमुख मानदंड मान रहा है। स्त्री अस्मिता की पड़ताल ही स्त्री विमर्श है। स्त्री अस्मिता का मुख्य संकट क्या है? इस यक्ष प्रश्न के समाधान हेतु निर्मित वैचारिक धरातल की संवेदना स्त्री सशक्तिकरण का पाथेय निर्मित करती है। पुरुषवादी सत्ता या सामंतवादी व्यवस्था या जड़ परंपरा के विरुद्ध स्त्री का संघर्ष, प्रतिकार और चेतना का स्वरूप कैसा है? स्त्री विमर्श के अंतर्गत इसका तार्किक विवेचन प्राप्त होता है। यद्यपि प्रारंभिक दौर में स्त्री अस्मिता के दो प्रमुख बिंदु आर्थिक निर्भरता और काम शुचिता का जिक्र मिलता है, किंतु इन दोनों बिंदुओं से इतर स्त्री विमर्श अपने उत्तरार्ध में अतिवाद के प्रति सावधान करते हुए मानवीय संबंधों की गरिमा, न्यायप्रियता व संवेदनशीलता का आग्रह करता है।

अस्मितावादी व प्रकृतिवादी आदिवासी काव्य में आदिवासी जीवन के संघर्षों, उनकी पुरखा परंपराओं और उनके विरुद्ध हो रहे सत्ता प्रायोजित बाजारवादी षड्यंत्रों का वर्णन निर्भीकतापूर्वक करना आदिवासी काव्य साहित्य की मूल संवेदना है। ऐसे काव्यों की समीक्षा के लिए प्राचीन काव्य मानकों का प्रयोग कतई सार्थक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि यहां नए तरह के साहित्यिक प्रतीकों के साथ-साथ भाषागत प्रयोग भी एकदम नये जान पड़ते हैं। ऐसे में यह स्पष्ट है कि अस्मितावादी काव्य के मूल्यांकन के लिए नए मानदंडों का सृजन किया जाए।

आधुनिक हिंदी साहित्य में आलोचना की जिस नई पौध का बीज रोपण भारतेंदु युग में किया गया, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, नगेंद्र, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह आदि तमाम विद्वानों ने उसे अपनी विद्वता से सींचकर एक विशाल वटवृक्ष में तब्दील कर दिया। जिसमें तमाम तरह की शाखाओं और उपशाखाओं का समायोजन था। ऐसी साहित्यिक विपुलता के बावजूद नए युगबोध से उपजे आग्रहों के प्रभाव में हिंदी काव्यालोचना को एक नई तरह की शाखा की ज़रूरत महसूस हो रही थी जिसकी पूर्ति समकालीन कवि-आलोचकों की पीढ़ी ने अपने रचनाकर्म से पूर्ण करने का प्रयास किया।

यह बात तो स्पष्ट है कि आलोचना के मानदंड काल-सापेक्ष ही होते हैं। इसीलिए भी समकालीन काव्यालोचना की समीक्षा हेतु नामवर सिंह सरीखे आलोचक भी नए प्रतिमानों की बात करते है। इसी कड़ी में उन्होंने 'कविता के नए प्रतिमान' का सृजन किया। कालान्तर में या कहें नब्बें के दशक और इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में एक आम परिपाटी यह हो गई की आलोचना-कर्म पूर्णरूपेण एक साहित्यिक प्रक्रिया भर न होकर रचना के सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा वर्गगत चेतना जैसे तत्वों के इर्द-गिर्द बुनी जाने लगी। आलोचना और सामाजिक यथार्थ के बदलते स्वरूप में एक ऐसी स्थिति भी उत्पन्न हुई जहां आलोचना में निर्विकार विवेक और विवेचन के बदले आस्था और अंधभक्ति का प्रभाव गहराता गया। तमाम विसंगतियों के होते हुए भी कवि-आलोचकों की समकालीन पीढ़ी अपने सृजन कर्म से समीक्षा के मूल उद्देश्य की पूर्ति हेतु रचना का सूक्ष्मता से विश्लेषण कर सूची-पाठकों के लिए सहज ग्रहणीय बनाने का काम कर रही है और यही तो आलोचना का परम उद्देश्य भी है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि समकालीन हिंदी काव्यालोचना अपनी पूर्ववर्ती आलोचना की धारा को सतत गतिशील बनाने के साथ-साथ उसमें कालसापेक्ष नये तत्वों का समावेश भी करती है। तथा आलोचकों के साथ-साथ कवि-आलोचकों के अनुभव, चिंतन व परिस्थिति सापेक्ष विचारों की समन्वित भूमि पर आलोचना विवेक के नव अंकुर उगा रही है। विमर्शवादी साहित्य अपने समकाल की संपूर्ण विधाओं में न केवल लिखा जा रहा है अपितु आलोचना की कसौटी में भी कसा जा रहा है। यद्यपि यह साहित्य प्रारंभ में जिस तीव्रता के साथ साहित्य जगत को हिलाकर रख देता है एक दशक के बाद इस साहित्य में समुंद्र जैसा ठहराव देखने को मिलता है। समकालीन कविता की धार इस विमर्शवादी चेतना का परिणाम है। समकालीन काव्यालोचना विमर्शवादी चेतना को आधार बनाकर समकालीन कविता की पड़ताल करती है। साथ ही विमर्शवादी साहित्य की पृष्ठभूमि का विश्लेषण न केवल बाह्य कारणों के आधार पर, बल्कि अंत: कारणों का विश्लेषण भी तर्कसंगत आधार पर किया गया । समकालीन हिंदी काव्यालोचना और अस्मितावादी विमर्श के बीच एक गहरा अंतर्संबंध है। जहाँ समकालीन आलोचना सामाजिक यथार्थ को पकड़ने का प्रयास करती है, वहीं अस्मितावादी दृष्टियाँ उस यथार्थ की बहुस्तरीय व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। ये दोनों मिलकर हिंदी साहित्य को एक नए जनतांत्रिक और संवेदनशील धरातल पर स्थापित कर रहे हैं। समकालीन काव्य आलोचना के अंतर्गत जो दृष्टिगत परिवर्तन हुए हैं उनमें आलोचना अब केवल कविता की कलात्मकता की बात नहीं करती, बल्कि वह यह भी पूछती है: यह कविता किसके लिए है? किसके पक्ष में है? और किसकी आवाज़ है?

संदर्भ सूची :

1 शुक्ल रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1930

2 सिंह नामवर, कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, 1972

3 डॉ.शुक्ला वीणा, आदिवासी साहित्य का सामाजिक संदर्भ, भारतीय ज्ञानपीठ, 2016

4 मुखर्जी मीनाक्षी,The Perishable Empire: Essays on Indian Writing in English, Oxford University Press, 2000 (संदर्भ: अस्मिता विमर्श का तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य)